

R.N.I. No. : DELBIL / 2001/4685 Postal regn. No. : A.L.G. / 29 / 2012-14

मूल्य-4 रुपये, वर्ष-13, अङ्क-1, जनवरी 2014

# मङ्गलायतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़ ( 2020 ) का मासिक पत्र समाचार पत्र



## अनित्यभावना



यौवन, मकान, धन, स्त्री, घोड़ा, गाय, हाथी, कुटुम्ब, नौकर-चाकर तथा पाँच इन्द्रियों के भोग, ये सब क्षणभंगुर एवं अस्थायी हैं। ये कोई भी पदार्थ नित्य एवं स्थायी नहीं हैं, किन्तु निज-शुद्धात्मा ही नित्य और स्थायी है।

जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व

अङ्क  
25



## आगम महासागर में से संकलित

### वैराग्य-वाणी

61. संसार की समस्त वस्तुएँ देख लीं। उनमें प्रेम करने या आसक्ति करने योग्य कोई भी वस्तु नहीं है। सूर्य का उदय होना और अस्त होना जैसा प्रगट दिखायी देता है, वैसे ही समस्त वस्तुएँ अपने ढंग से आती-जाती रहती हैं।

(— श्री बुधजन-सत्सई )

62. तिर्यचगति में छेदन-भेदन के द्वारा जो दुःख उठाये हैं, उनको कोई मनुष्य करोड़ों जिह्वाओं के द्वारा भी कहने को समर्थ नहीं है।

(— श्री सारसमुच्चय )

63. हे जीव ! जो पाप का उदय जीवों को दुःख देकर शीघ्र मोक्ष जाने योग्य उपायों में वृद्धि कराता है, तो वह पाप का उदय भी अच्छा है —ऐसा ज्ञानी कहते हैं।

(— श्री परमात्मप्रकाश )

64. यदि सर्वप्रथम ही संसार के भय से मोक्षसुख में दृढ़ रुचि उत्पन्न होती है, तो वह (मोक्षसुख की) प्राप्ति का सरल उपाय है।

(— तत्त्वज्ञान-तरङ्गिणी )

65. मनुष्य, मृत्यु को प्राप्त हुए जीवों के विषय में सुनता है, तथा वर्तमान में वह मृत्यु को प्राप्त होनेवाले अनेक जीवों को स्वयं देखता भी है; तथापि वह मात्र मोह के कारण अपने को अत्यन्त स्थिर मानता है; इसलिए वृद्धत्व को प्राप्त होने पर भी सम्भवतः धर्म की अभिलाषा नहीं करता और इसी कारण अपने को निरन्तर पुत्रादिरूप बन्धनों से अत्यन्तरूप से बाँधता है।

(— श्री पद्मनन्दिपंचविंशति )

66. “मनुष्यपना, आप्त उपदेशित धर्मश्रुत का श्रवण, उसके प्रति श्रद्धा और अन्त में संयम के विषय में बल-पराक्रम को लगाना, यह उत्तरोत्तर अति-अति दुर्लभ है—ऐसा जानकर उपरोक्त चार परम मङ्गल में से, प्राप्त हुए मनुष्यपने को शेष तीन परम मङ्गल से अलंकृत करो, सुशोभति करो।” राजपद तो क्या परन्तु उससे भी उत्कृष्ट अनुपम लक्ष्मी के हेतुभूत धर्म को प्राप्त करने के इस दुर्लभ मौसम में विनाशी विभूति लेने की और दौड़कर व्यर्थ काल गँवाना यह सुबुद्धिमान को योग्य नहीं है। राज्यादि क्षणभंगुर चपल विभूतियाँ तो धर्ममार्ग पर प्रयाण करते हुए बीच-बीच में सहज ही मिल जाएँगी। उस ओर की अति उन्मत्त आतुरता छोड़ो।

(— श्री आत्मानुशासन )

## थोड़े से जीवन में यह क्या कर रहे हो भाई ?



एक विचार आया था कि—सरकारी नौकरों को 55-56 वर्ष की उम्र में नौकरी से निवृत्त कर देते हैं; तो क्या इन सेटों के लिये ऐसा कोई नियम नहीं होगा? कि 55-56 वर्ष की उम्र में व्यापार-धन्धे से निवृत्त होकर अपने आत्मा का हित करें! आहाहा! आजीविका की चिन्ता न हो, पैसे के ढेर लगे हों, फिर भी निवृत्ति लेकर अपने आत्मा का हित नहीं करते—ऐसे लोगों को मरकर कहाँ जाना है? अरे, ममता के परिणाम में मरकर तिर्यचगति में बकरी आदि के पेट से जन्म लेंगे।

श्रीमद् राजचन्द्र तो कहते हैं कि मुमुक्षु को पर्याप्त आजीविका मिलती हो तो विशेष प्रवृत्ति नहीं करना चाहिए; यह तो रोटी मिलती हो तो सिर पर पोटली बाँधता है। अरे भाई! तुम्हें जाना कहाँ है? थोड़े से जीवन में यह तुम क्या कर रहे हो? ऐसा मनुष्यभव मिला और सत् समझने का अवसर आया तो चार-छह घण्टे स्वाध्याय-श्रवण-मनन तथा सत्समागम करके अपने आत्मा का कुछ हित कर लो, ताकि यह मनुष्य भव सफल हो जाए।

—पूज्य गुरुदेवश्री



Regn. No. : DELBIL / 2001/4685 Postal regn. No. : A.L.G. / 29 / 2012-14

तीर्थधाम मङ्गलायतन का ग्यारहवाँ वार्षिक महोत्सव  
**मङ्गलायतन महा महोत्सव**

दिनांक 31 जनवरी से 06 फरवरी 2014



आत्मार्थी बन्धुवर,

सादर जयजिनेन्द्र!

वीतरागी जिनशासन की गौरवमयी परम्परा में पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी एवं तत्पथानुगामी बहिनश्री चम्पाबेन सहित समस्त धर्मात्माओं के प्रभावनायोग में निर्मित आपका अपना तीर्थधाम मङ्गलायतन अपनी स्थापना के ग्यारह वर्ष पूर्ण कर रहा है।

इस माङ्गलिक उपलक्ष्य में दिनांक शुक्रवार, 31 जनवरी से गुरुवार, 06 फरवरी 2014 तक मङ्गलायतन महा महोत्सव के रूप में विशाल धार्मिक, आध्यात्मिक एवं भक्तिपूर्ण कार्यक्रम आयोजित किया जा रहा है।

इस पावन प्रसंग पर देश के ख्यातिप्राप्त आध्यात्मिक प्रवक्ताओं के द्वारा पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा उद्घाटित जिनशासन के सनातन सत्य सिद्धान्तों को समझकर आत्मसात करने का यह अवसर अभी से अपने जीवन में निश्चित करने हेतु हमारा हार्दिक आमन्त्रण है। कृपया अवश्य पधारकर तत्त्वज्ञान का लाभ अर्जित करें।

निवेदक

श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द-कहान-दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़

# मङ्गलायतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट  
हरिनगर, आगरा रोड, अलीगढ़ - 202 001 (उ.प्र.)

Shri Adinath-Kundkund-Kahan  
Digamber Jain Trust  
Harinagar, Agra Road, Aligarh-202 001

Ph. : 9997996346, 2410010/11; Fax : 2410019/22  
info@mangalayatan.com; www.mangalayatan.com



# मङ्गलायतन



श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़ ( उ.प्र. ) का  
मासिक मुखपत्र

वर्ष-13, अङ्क-1 जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व ( वि.नि.सं. 2540 ) जनवरी 2014

## दुविधा कब जैहै या मन की.....

दुविधा कब जैहै या मन की ॥ टेक ॥

कब निजनाथ निरंजन सुमिरों, तज सेवा जन-जन की ॥1 ॥

कब रुचि सौं पीवौं दृग चातक, बूंद अखयपद धन की ।

कब सुभ ध्यान धरौं समता गहि, करूं न ममता तन की ॥2 ॥

कब घट अन्तर रहै निरन्तर, दृढता सुगुरु वचन की ।

कब सुख लहौं भेद परमारथ, मिटै धारना धन की ॥3 ॥

कब घर छाँडि होहुं एकाकी, लिये लालसा वन की ।

ऐसी दशा होय कब मेरी, हौं बलि बलि वा छिन की ॥4 ॥

कविवर पण्डित बनारसीदास



**संस्थापक सम्पादक**

स्व. पण्डित कैलाशचन्द्र जैन, अलीगढ़

**प्रधान सम्पादक**

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, मङ्गलायतन

**सम्पादकीय सलाहकार**

पण्डित रतनचन्द्र भारिल्ल, जयपुर

पण्डित विमलदादा झाँझरी, उज्जैन

श्री चिरंजीलाल जैन, भावनगर

श्री प्रवीणचन्द्र पी. चोरा, देवलाली

श्री वसन्तभाई एम. दोशी, मुम्बई

श्री श्रेयस् पी. राजा, नैरोबी

श्री विजेन वी. शाह, लन्दन

पण्डित संजय जैन शास्त्री, मङ्गलायतन

पण्डित सुधीर जैन शास्त्री, मङ्गलायतन

**सम्पादक मण्डल**

ब्रह्मचारी पण्डित ब्रजलाल शाह, वढ़वाण

बाल ब्रह्मचारी हेमन्तभाई गाँधी, सोनगढ़

डॉ. राकेश जैन शास्त्री, नागपुर

श्रीमती बीना जैन, देहरादून

**भूतपूर्व मुख्य सलाहकार**

स्व. साहू रमेशचन्द्र जैन, नयी दिल्ली

**मुख्य सलाहकार**

श्री बिजेन्द्रकुमार जैन, अलीगढ़

**मार्गदर्शन**

डॉ. किरिटभाई गोसलिया, अमेरिका

श्री लक्ष्मीचन्द्र बी. शाह, लन्दन

श्री पवन जैन, अलीगढ़

पण्डित अशोक लुहाड़िया, अलीगढ़

अङ्क के प्रकाशन में सहयोग

**श्रीमती ओखीबाई****धर्मपत्नी श्री जसराजजी**

हस्ते श्री अशोककुमार जैन चिन्मय

100/5 बुल टैम्पल रोड,

टेलीफोन एक्सचेंज के आगे,

बैंगलोर।

**शुल्क :**

वार्षिक : 50.00 रुपये

एक प्रति : 04.00 रुपये

**जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व  
विशेषाङ्क****क्या / कहाँ**

मोहक्षय करने का उपाय	3
मोक्ष के लिये मङ्गल शिलान्यास	11
सुखी होने का आशीर्वाद	17
नव तत्त्व का स्वरूप और....	19
धर्मसाधन	29
समाचार-सार	31

**पं. सं. : DELBIL/2001/4685**

स्वामी, प्रकाशक एवं मुद्रक पवन जैन द्वारा मङ्गलायतन मुद्रणालय, आगरा रोड, अलीगढ़-202001 छपवाकर, 'विमलांचल', हरिनगर, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित। सम्पादक : पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, मङ्गलायतन।



प्रवचनसार परमागम पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन

## मोहक्षय करने का उपाय

जिनवाणी का सम्यक् अभ्यास, मोहनाश के लिये ब्रह्मास्त्र है। भावज्ञान द्वारा जिनवाणी की उपासना करने से मुमुक्षु के अन्तर में आनन्द की धारा उल्लसित होती है।

श्री जिनवाणी की परम महिमा दिखाकर, मुमुक्षु जीव को उसके सम्यक् अभ्यास से आत्मप्राप्ति का शौर्य जगानेवाला यह प्रवचन पढ़कर जिज्ञासु जीव आनन्दसहित आत्मप्रयत्न में उल्लसित होगा।

मुमुक्षु जीव 'सहृदय' है, इसलिए वह द्रव्यश्रुत के अभ्यास द्वारा ज्ञानी-सन्तों के हृदय का थाह लेकर उनके अन्तर के शुद्धभावों को पहिचान लेता है; वह शब्दों में नहीं अटकता परन्तु भावज्ञान के द्वारा ज्ञानी के हृदय के भीतर पहुँच जाता है। तब उसे आनन्द की शान्तरसधारा उछलती है।

—इसके लिये अन्तर में आत्मा की लगन लगनी चाहिए। शास्त्राभ्यास का हेतु कहीं ऐसा नहीं कि शब्दों के सामने देखकर बैठे रहना, किन्तु मुमुक्षु का हेतु तो यह है कि शास्त्र में जैसा कहा, वैसा अपना ज्ञानानन्द-स्वरूप आत्मा लक्ष्य में लेकर उसका स्वसंवेदन करना और ऐसा चैतन्य का संवेदन होता जाये—यही सम्यक् शास्त्राभ्यास है; उसके फल में आनन्द की प्राप्ति तथा मोह का नाश अवश्यमेव होता है। इस प्रकार मुमुक्षु को शास्त्राभ्यास कर्तव्य है।

[ श्री प्रवचनसार गाथा 86 से 90 के प्रवचन में से दोहन ]

जिनशास्त्रतें प्रत्यक्ष-आदि से जानता जो अर्थ को।

तस मोह होता नाश निश्चय, शास्त्र समध्ययनीय है ॥86 ॥

देखो, यह मोह के नाश का उपाय! पहले 80 वीं गाथा में यह कहा कि—अरिहन्तदेव के शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय की पहिचान से आत्मा की पहिचान होकर मोह का क्षय होता है। अब यहाँ 86 वीं गाथा में कहते हैं कि जिनशास्त्रों के अभ्यास से प्रत्यक्ष प्रमाण की मुख्यतापूर्वक पदार्थों को जानने से मोह का अवश्य नाश होता है; अतः शास्त्र, सम्यक् प्रकार से



अभ्यास करने योग्य है, अर्थात् शास्त्र में कहे हुए जीवादि तत्त्वों का सम्यक् स्वरूप जानने योग्य है।—ये दोनों ( गाथा 80 तथा 86 का) कथन एक दूसरे से सापेक्ष है, उनमें कोई विरोध नहीं है।

सर्वज्ञ-अरिहन्तदेव के द्रव्य-गुण-पर्याय की पहिचान करे, तब उनकी वाणी में शुद्ध आत्मा का स्वरूप कैसा दिखलाया है—उसका भी भावश्रुतज्ञान साथ में ही आ जाता है। अरिहन्त भगवान के शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय चेतनमय हैं—ऐसा जानने का कहा—वह कैसे जाना जाय?—सर्वज्ञ-उपदिष्ट आगम के भावश्रुतज्ञान से ही शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय का ज्ञान होता है। ऐसे भावश्रुतज्ञान में आनन्द की तरंगें उठती हैं, और उस ज्ञान के बल से मोह का जरूर नाश होता है।

सर्वज्ञ के स्वरूप का ज्ञान होते ही उनके कहे हुए आगम का ज्ञान भी हो जाता है; और सर्वज्ञ के आगम में जो कहा है, उसका सम्यक् रूप से अभ्यास करने पर उसमें सर्वज्ञ के स्वरूप का भी ज्ञान आ ही जाता है; इस प्रकार अरिहन्तदेव के द्रव्य-गुण-पर्याय का ज्ञान, तथा आगम का ज्ञान, इन दोनों की परस्पर सापेक्षता है, एक के साथ में दूसरा रहता ही है।

सर्वज्ञदेव के कहे हुए पाँच-परमागम (समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार तथा अष्टप्राभृत) यहाँ सोनगढ़ के परमागम मन्दिर में संगमरमर में तो टंकोत्कीर्ण हो चुके हैं, मुमुक्षु को तो उनका भाव अपने हृदय की ज्ञानशिला में लिख लेना चाहिए, तभी उनके भावों का सच्चा ज्ञान होने से मोह का नाश होकर अपूर्व मोक्षमार्ग प्रगट होता है। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि—मोह का नाश करने के लिये सर्वज्ञ की वाणीरूप आगम का अभ्यास करो। किस प्रकार अभ्यास करना? - कि भावज्ञान के अवलम्बन द्वारा दृढ़ीकृत सम्यक् परिणाम से अभ्यास करना; भावश्रुतज्ञान अन्तर में स्वोन्मुख होता है; अतएव स्वलक्ष्य से जो जीव, जिनवाणी का अभ्यास करता है, उसको तो पद-पद का ज्ञान करते-करते आनन्दरस का संवेदन होता जाता है। इसलिए मुमुक्षुओं को सर्वज्ञोपज्ञ आगम का सम्यक् प्रकार से अभ्यास कर्तव्य है।





देखो, यहाँ सर्वज्ञोपज्ञ आगम का अभ्यास करने का कहा, उसमें बहुत गंभीरता है। प्रथम तो अभ्यास करनेवाले को सर्वज्ञ की प्रतीति है; उस सर्वज्ञ के कहे हुए आगम का अभ्यास अर्थात् उस आगम में जो वस्तुस्वरूप कहा है, उसका ज्ञान। आगम में क्या कहा है?—

- ❖ समस्त जिनागमों में वीतरागभाव को ही तात्पर्य कहा है।
- ❖ वीतरागता, स्वद्रव्य के ही आश्रय से होती है।
- ❖ स्वद्रव्य का आश्रय, उसके सम्यक् श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक ही होता है।
- ❖ जिनशास्त्रों में कहीं पर भी राग-द्वेष को तात्पर्य नहीं कहा।
- ❖ परद्रव्य के आश्रय से जीव का कल्याण होने का नहीं कहा।

श्री जिनवाणी कहती है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है; उसके द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों ही ज्ञानस्वरूप से व्याप्त हैं; ज्ञान के साथ राग का या जड़ का मिलान नहीं है; ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा को जानकर, श्रद्धा में लाकर, उसकी अनुभूति करना, सो मोक्षमार्ग है। इस तरह से स्वभावसन्मुख होनेरूप सत्य तात्पर्य समझकर जो जीव अन्तर्मुख होता है, उसने ही शास्त्र के सच्चे भाव का अभ्यास किया है और उसका मोह अवश्य नष्ट होता है, परन्तु शास्त्र-सन्मुख के शुभराग को ही सर्वस्व समझकर जो उसमें अटक जाता है, उस जीव ने शास्त्र के भाव का अभ्यास नहीं किया, किन्तु अपने राग का ही अभ्यास किया है। शास्त्र ने तो ऐसा कहा था कि हे जीव! तू राग से भिन्न तेरे चैतन्यस्वरूप को देख, चैतन्य के स्वसंवेदनरूप प्रत्यक्ष ज्ञान से आत्मा को जान, तो तेरा मोह क्षय हो जायेगा। अब ऐसा न करके, उसके बदले में शास्त्र के प्रति राग-विकल्प में ही लाभ मानकर उसमें ही जो अटक जाय, उसने तो शास्त्र-आज्ञा से विरुद्ध क्रीड़ा की है। जो शास्त्राज्ञा के अनुसार वस्तुस्वरूप लक्ष्य में लेकर भावश्रुतज्ञान से सम्यक् क्रीड़ा (उल्लास को साथ बार-बार मनन) करे, उसे तो पद-पद पर अपना स्वरूप राग से भिन्न, चेतनमय प्रतिभासित होता है और आनन्द के फव्वारे उछलते हैं, तथा मोह का नाश हो जाता है।



वाह, जिनशास्त्र का अभ्यास किस प्रकार किया जाय ? और उसके फल में तत्काल ही कैसा आनन्द आता है ?—यह बात आचार्यदेव ने यहाँ दिखलायी है; इसमें स्वसन्मुख भावश्रुत के अभ्यास की अद्भुत बात है।

भगवान सर्वज्ञदेव ने जो प्रत्यक्ष देखा, वही जिनागम में कहा है, इसलिए जिनागम सर्व प्रकार से अबाधित है। ऐसे अबाधित प्रमाणरूप जिनागम को प्राप्त करके मुमुक्षु क्या करते हैं ?—कि उसमें क्रीड़ा करते हैं; उसमें क्रीड़ा करते—करते उसके घोलन से उन्हें विशिष्ट स्वसंवेदनशक्तिरूप संपदा प्रगट हो जाती है। उन सहृदयी भावुक—मुमुक्षु जीवों के अन्तर में आनन्द के फव्वारे उछालनेवाले ऐसे प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा तथा प्रत्यक्षपूर्वक के अनुमान—आगमादि प्रमाणों के द्वारा स्व—पर समस्त वस्तु का सत्य ज्ञान होने पर मोह का नाश हो जाता है। बस, यही है—मोह के नाश का उपाय।

### ज्ञान में क्रीड़ा :

मुमुक्षु जीव, जिनवाणी को पाकर उसमें क्रीड़ा करता है, अर्थात् जिनागम में आत्मा का जैसा स्वरूप कहा है, वैसा आनन्दपूर्वक अभ्यास में लेकर निर्णय करता है, उसमें उसको बोझा नहीं लगता परन्तु ज्ञान की मौज आती है, इसलिए 'क्रीड़ा करता है' ऐसा कहा है। पहले अज्ञान में राग की क्रीड़ा करता था; अब जिनागम के अभ्यास से ज्ञान की क्रीड़ा का प्रारम्भ किया है। अन्तर के वस्तुस्वरूप को जानते—जानते श्रुतज्ञान के अनन्त प्रकारों के द्वारा नये—नये अद्भुत भाव प्रकट होते हैं, यही श्रुतज्ञान की केलि है; ऐसी ज्ञानक्रीड़ा के द्वारा मुमुक्षु जीव, भगवान अरिहन्त के द्रव्य—गुण—पर्याय को, तथा परमार्थ से वैसे ही अपने आत्मा के परमार्थस्वरूप को निश्चित कर लेता है; उसे यथार्थ वस्तुस्वरूप ज्ञान में आते ही आनन्द के संवेदनसहित प्रत्यक्ष प्रमाणरूप सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है और मोह नष्ट हो जाता है। जिनवचन के अनुसार वस्तुस्वरूप का सत्य ज्ञान होने पर दर्शनमोह टिक नहीं सकता।

सर्वज्ञदेव के चेतनस्वरूप द्रव्य—गुण—पर्याय को जानकर, उसके साथ अपने आत्मा के द्रव्य—गुण—पर्याय का मिलान करने से, राग तथा ज्ञान की अत्यन्त भिन्नता का भान होता है और गुण—पर्यायों को द्रव्य में ही अभेद



करके आत्मा का अनुभव होता है, उसी समय मोह का नाश होकर सम्यक्त्व होता है। (यह बात 80 वीं गाथा में दिखायी।) अब, उसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान के आगम में द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप स्व-परवस्तु का भिन्न-भिन्न स्वरूप जैसा कहा है वैसा, आत्मा के स्वसंवेदनरूप प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा जानने से अवश्य मोह का नाश होता है और सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है। अतः मुमुक्षु को मोहक्षय करने के लिये भावश्रुतज्ञान के अवलम्बन द्वारा सम्यक् प्रकार से जिनागम का अभ्यास कर्तव्य है। (यह बात 86 वीं गाथा में कही।)

### प्रथम भूमिका में गमन :

‘जिसने प्रथम भूमिका में गमन किया है... ऐसे जीव के मोह का क्षय होता है’ ऐसा यहाँ कहा है, उसमें ‘प्रथम भूमिका’ का क्या अर्थ है?—जो अनादि से अज्ञानभूमिका में किया, उस रीति से नहीं, किन्तु उससे भिन्न रीति से धर्म का प्रारम्भ करने के लिये जो तैयार हुआ है, वह जीव, धर्म के प्रारम्भ में प्रथम तो सम्यग्ज्ञान का अभ्यास करता है; उसको जिनवाणी में क्रीड़ा करने से लेकर मोह का क्षय होने तक बीच में क्या-क्या होता है, वह सब आचार्यदेव ने अलौकिक ढंग से दिखाकर अनुभव का उपाय अत्यन्त स्पष्ट बतलाया है। अब उस प्रकार से अपने अन्तर में प्रयोग करके प्रयत्न के द्वारा आत्मा का साक्षात् अनुभव करना—यह मुमुक्षु का काम है।

मुमुक्षु ने आत्म-अनुभव करने के लिये जब ‘प्रथम भूमिका में’ गमन किया कि उसी समय अन्य सबसे चित्त को हटा कर, ‘मेरा चैतन्यतत्त्व जिनागम में कैसा कहा है’—उसका शोधन करने के लिये भावज्ञान द्वारा जिनागम में क्रीड़ा करने लगता है; आत्मा के प्रति परम प्रेमपूर्वक अपूर्वभाव से उसका अभ्यास करता है। जैसा अनादि से कर रहा था, वैसा ही करे तो उसको ‘प्रथम’ नहीं कह सकते। ‘प्रथम’ का अर्थ तो ऐसा है कि अनादि से चल रही अशुद्ध परिणति से भिन्न प्रकार की नयी परिणति का प्रारम्भ करता है... जिनागम ने जैसा आत्मस्वभाव कहा, वैसा लक्ष्यगत करके ज्ञान को उसके सम्मुख ले जाता है; ऐसी नयी अपूर्व भूमिका का प्रारम्भ राग के द्वारा नहीं परन्तु भावश्रुतज्ञान की क्रीड़ा के द्वारा होता है।—मुमुक्षु जीव के



अन्तरंग-प्रयत्न की यह अपूर्व बात है।

**मुमुक्षु के विशिष्ट स्वसंवेदन-शक्तिरूप संपदा प्रकट होती है :**

मुमुक्षु जीव ज्यों-ज्यों जिनवाणी में क्रीड़ा करता है, त्यों-त्यों उसकी विशिष्ट स्वसंवेदनशक्ति विकसित होती जाती है। 'यह मेरा चैतन्यभाव है, यह राग भाव है, सो चैतन्यजाति से भिन्न है'—इस प्रकार स्व-पर भावों की स्पष्ट भिन्नता उसके वेदन में आने लगती है; बारबार भेदज्ञान के अभ्यास के संस्कार से आत्मा में गहरे उतरने से ज्ञान में जो स्वसंवेदनशक्ति प्रगट होने लगी, उसे 'विशिष्ट' कही है। विशिष्ट कहने से सामान्य जानकारी की बात नहीं है, परन्तु जो ज्ञान, अन्तर में आत्मा की ओर झुक रहा है तथा राग से अधिक (भिन्न) होने लगा है, वह विशिष्ट है। ऐसे विशिष्ट ज्ञानरूप स्वसंवेदनशक्ति ही मुमुक्षु की सम्पदा है। राग को सम्पदा नहीं कहते; स्वोन्मुखी ज्ञान ही सम्पदा है। ऐसी ज्ञानसम्पदा प्रगट करके... स्व-पर तत्त्वों को यथार्थस्वरूप से जानता है। किस प्रकार जानता है? अपने आत्मा को तो स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष-प्रमाण द्वारा अनुभवगम्य करके जानता है, तदुपरान्त प्रत्यक्ष से अविरुद्ध ऐसे अन्य प्रमाणों के द्वारा समस्त तत्त्वों को यथार्थरूप से जानता है; तब ज्ञान में कोई विपरीतता नहीं रहती और मोह का गंज (दर्शनमोह) नष्ट हो जाता है।

**प्रत्यक्षप्रमाण सहृदय जीवों को आनन्द का फव्वारा देनेवाला है :**

यहाँ मुमुक्षु जीव सहृदय है, इसलिये सन्तों का कहा हुआ जो द्रव्यश्रुत, उसके अभ्यास से वह ज्ञानी, सन्तों के हृदय की थाह लेकर उनके अन्तर के शुद्धभावों को पहिचान लेता है; वह शब्दों में नहीं अटकता, परन्तु भावज्ञान के द्वारा ज्ञानी के हृदय के भीतर पहुँच जाता है और उनके कहे हुए शुद्ध जीवादि तत्त्वों का स्वरूप सम्यक् परिणाम से जान लेता है। यह जानते ही उस सहृदय मुमुक्षु के अन्तर में आनन्द का उद्भव होता है—शान्ति का फव्वारा उछलता है; सम्यग्ज्ञान के साथ ही उसे अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति होती है। वह जीव, स्वसंवेदन-प्रत्यक्षरूप स्वानुभव प्रमाण से तो अपने आत्मा का सम्यक् स्वरूप जानता है, तथा ऐसे प्रत्यक्ष





सापेक्ष परोक्ष प्रमाण के द्वारा समस्त तत्त्वों को जानता है। प्रत्यक्ष से रहित अकेला परोक्ष, वह वास्तविक प्रमाण नहीं है।

**प्रश्न :** शास्त्र के अभ्यास में तो विकल्प है ?

**उत्तर :** मुमुक्षु को विकल्प की मुख्यता नहीं है, किन्तु शास्त्र क्या कहते हैं—उसकी मुख्यता है। विकल्प होता है परन्तु उस समय ज्ञान का झोक तो विकल्पों से पार ऐसे शुद्ध चैतन्यस्वभाव की ओर झुक रहा है। 'आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, उसका निर्णय करके तुम्हारी पर्याय को उसी में अभेद परिणमाओ'—ऐसी शास्त्रों की आज्ञा है, अतः ऐसे शास्त्र का सम्यक् अभ्यास करनेवाले मुमुक्षु को अपने अन्तरंग में उसके वाच्यरूप अपना ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा स्वसंवेदन में आने लगता है, और मोह का नाश होता जाता है।

—ऐसा करने के लिये अन्तर में आत्मा का रंग लगाना चाहिए। शास्त्र अभ्यास का हेतु कहीं ऐसा नहीं कि शब्दों के सामने देखकर बैठे रहना; किन्तु मुमुक्षु का हेतु तो यह है कि शास्त्र में जैसा कहा वैसा अपना ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा लक्ष्य में लेकर उसका स्वसंवेदन करना; और ऐसा चैतन्यसंवेदन होना यही सच्चा शास्त्राभ्यास है। उसके फल में अवश्यमेव आनन्द की प्राप्ति और मोह का नाश होता है।—इस अपेक्षा से श्रुत के अभ्यास में निर्जरा होने का भी कहा है।

**शंका :** शास्त्र के अभ्यास में तो विकल्प है ?

**समाधान :** आत्मा के लक्ष्यपूर्वक जहाँ शास्त्र का अभ्यास है, वहाँ विकल्प गौण है और ज्ञान मुख्य है। वह ज्ञान, आत्मा का अनुसरण करता हुआ, विकल्प से भिन्न कार्य करता है; विकल्प टूटता जाता है तथा ज्ञानरस का घोलन बढ़ता जाता है। समयसार के तीसरे कलश में अमृतचन्द्रसूरि ने कहा है कि इस समयसार की व्याख्या से ही मेरे आत्मा की परमविशुद्धि होवो। समयसार के अन्त में गाथा 415 में कुन्दकुन्ददेव ने भी कहा है कि—

**यह समयप्राभृत पठन करके, अर्थ-तत्त्व से जानके।**

**जो स्थित हो निजआत्म में वह सौख्य उत्तम परिणमें॥**



यहाँ भी कहते हैं कि मोहक्षय करने के लिये भावज्ञान के अवलम्बन से दृढीकृत परिणाम के द्वारा, शब्दब्रह्म ( - जिनवाणी ) की उपासना का सम्यक् प्रकार से अभ्यास करना, यह मोह के क्षय का उपाय है।

यदि सम्यक् प्रकार से उपासना की जाय तो जिनवाणी

‘शब्दब्रह्म’ का कार्य करती है; जैसे ब्रह्मास्त्र कभी निष्फल नहीं जाता, वैसे जिनवाणीरूप ब्रह्मास्त्र, मोह का छेद करने में कभी निष्फल नहीं जाता। शर्त यह है कि आत्मा का सच्चा अर्थी होकर, सम्यक् परिणाम से उसका अभ्यास करना चाहिए। जिनवाणी तो अरिहंत जैसा शुद्ध आत्मस्वरूप दिखानेवाली है:—

**जिनपद निजपद एकता भेदभाव नहीं कोई;  
लक्ष कराने उसका कहे शास्त्र सुखदाई।**

( श्रीमद् राजचन्द्रजी )

भगवान सर्वज्ञ के आत्मा की पहिचान करके, उनके जैसे ही अपने चेतनमय आत्मा को पहचानने से सम्यग्दर्शनादि होते हैं; ऐसे निजपद की पहचान कराने के लिये ही समस्त जिनशास्त्र की रचना है, अतः उसका अभ्यास सुखदायी है, उसमें परम शान्तरस टपकता है। जिनवाणी के पद -पद में चैतन्य का शान्तरस झरता है क्योंकि आत्मा में जो शान्तरस भरा है, उसको वह दिखलाती है। अधिकार समाप्त करते हुए अन्तिम 92 वीं गाथा में आचार्य महाराज कहेंगे कि अहो! जिनेन्द्रदेव के यह शब्दब्रह्म जयवन्त वरों-कि जिनके प्रसाद से शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि हुई, और अनादि का मोह मिट गया।

**क्रमशः**



जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व

पूज्य गुरुदेवश्री का माङ्गलिक प्रवचन

## मोक्ष के लिये मङ्गल शिलान्यास

आत्मा का परम स्वभाव सत् है; उस सत् को लक्ष्य में लेकर, उसका पक्ष करके, उसके अभ्यास में दक्ष होकर उसे स्वानुभव से प्रत्यक्ष करो... तो अपूर्व आनन्दसहित मोक्ष का मार्ग आत्मा में खुल जायेगा।

आत्मा को सम्यग्दर्शन कैसे हो, अर्थात् तीर्थङ्करों के मार्ग में प्रवेश कैसे हो—उसकी यह बात चलती है।

व्यवहार के अनेक प्रकार हैं क्योंकि उसमें सहज एक ज्ञायकभाव तिरोभूत है और कर्म के साथ मिलावटवाले अनेक भाव अनुभव में आते हैं। जबकि निश्चय का प्रकार एक ही है, उसमें सहज एक ज्ञायकभावरूप से ही आत्मा अनुभव में आता है; और ऐसे सहज एक ज्ञायकभाव को शुद्धनय द्वारा जो देखते हैं, वे सम्यग्दृष्टि हैं, वे ही सच्चे आत्मा को देखनेवाले हैं। ऐसे आत्मा को देखकर तीर्थङ्कर भगवन्तों के मार्ग में प्रवेश किया जाता है। रागादि अशुद्धभावरूप से ही अपने को जो अनुभव करता है, उसे तीर्थङ्करों के मार्ग में प्रवेश नहीं होता, अर्थात् धर्म की शुरुआत नहीं होती। भगवन्त तीर्थङ्करों द्वारा बताये हुए मोक्षमार्ग में प्रवेश करने का द्वार शुद्धनय है।

दुनिया में बहुत से जीव तो रागादि अशुद्धभावरूप ही आत्मा को अनुभव करते हैं; शुद्धनय द्वारा भेदज्ञान करके शुद्ध आत्मा का अनुभव करनेवाले जीव तो थोड़े / विरले ही हैं। यहाँ पानी और कादव के दृष्टान्त से यह बात समझाते हैं।

आत्मा का सहज एक ज्ञायकभाव और मोहादि अशुद्धभाव सर्वथा एकमेक नहीं परन्तु भिन्न स्वभाववाले हैं। जैसे पानी और कादव सर्वथा एक नहीं, इस कारण निर्मली औषधि द्वारा उन्हें भिन्न किया जा सकता है। उसी प्रकार शुद्धनयरूपी परम निर्मल औषध द्वारा आत्मा को और मोहादि अशुद्धभावों को भिन्न करके शुद्ध आत्मा का अनुभव हो सकता है।

आत्मा का सहज एक ज्ञायकभाव तो सदा ही विद्यमान है परन्तु



एकान्त राग को ही अनुभव करनेवाले अज्ञानी की दृष्टि में वह ज्ञायकभाव दिखायी नहीं देता; इसलिए अज्ञानी के लिये वह ढँक गया है—ऐसा कहा है। उसका कहीं अभाव नहीं हो गया है परन्तु अज्ञानी की दृष्टि में वह दिखायी नहीं देता; उसे तो अशुद्धता ही दिखती है। सहज एक ज्ञायकभाव को देखने के लिये तो शुद्धनय की दृष्टि चाहिए। शुद्धनय में ही ऐसी ताकत है कि सर्व अशुद्धभावों से भिन्न एक सहज ज्ञायकभावरूप से आत्मा को अनुभव में लेता है। शुद्धनय स्वयं भूतार्थ आत्मस्वभाव में अभेद होकर उसे अनुभवता है; इसलिए उसे भूतार्थ कहा है। ऐसा अनुभव ही सम्यग्दर्शन है, उसमें आत्मा का आनन्द झरता है। उसकी दृष्टि में भगवान् आत्मा जैसा है, वैसा शुद्धरूप से प्रगट हुआ; पहले तिरोभूत था, वह अब शुद्धनय द्वारा प्रगट हुआ। इसमें भूतार्थ आत्मा का ज्ञान और सम्यग्दर्शन दोनों एक साथ है।

कर्म के साथ सम्बन्धरहित शुद्धज्ञानरस से भरपूर आत्मा को जो नहीं अनुभव करता, वह अपने को कर्म की ओर के अशुद्धभावरूप ही अनुभव करता है, अर्थात् वह कर्म को ही अनुभव करता है। व्यवहारनय ऐसे अशुद्ध आत्मा को देखता है, इसलिए वह अभूतार्थ है—असत्यार्थ है, आत्मा के सत्य-भूतार्थस्वभाव को व्यवहारनय नहीं देखता; आत्मा को देखने के लिये तो अतीन्द्रिय दृष्टिरूप शुद्धनय चाहिए।

आत्मा का जीवन तो सम्यग्दर्शन में है; राग में या देह में कहीं आत्मा का जीवन नहीं है। भाई! तेरा जीवन जीना तुझे नहीं आया। तेरा वास्तविक स्वरूप बतलाकर सच्चा जीवन जीने की विधि तुझे सन्त बतलाते हैं। पहले तो चेतन से अन्य जो परभाव, उन सबको शुद्धनय द्वारा तुझसे भिन्न कर और सर्व परभाव से रहित एक भूतार्थ शुद्धात्मा को देख। शुद्धात्मा पर दृष्टि रखकर जो निर्मल ज्ञान-आनन्दधाम में पवित्र जीवन है, वह आत्मा का जीवन है। उस जीवन में अनन्त गुणों की शुद्धता प्रगट अनुभव में आती है।

जहाँ तू है, वहाँ राग और शरीर नहीं; जहाँ शरीर और राग है, वहाँ तू नहीं। तू तेरे चैतन्यधाम में है; चेतन में राग नहीं और रागादि में चेतन नहीं। शरीर तो अचेतन है, उसमें जीव कैसा? और जीव में शरीर कैसा?





सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त हो और उसकी प्राप्ति होने पर आत्मा में क्या होता है?—उसकी यह बात है। अहो! यह आत्मा के हित की मीठी-मधुर बात है। ऐसा परम वीतरागी सत्य अभी बाहर आया है और हजारों जीव जिज्ञासा से यह सुनते हैं। ऐसे सत्य का पक्ष करनेयोग्य है। आत्मा के स्वभाव की यह सत्य बात लक्ष्य में लेकर उसका पक्ष करनेयोग्य है और फिर बारम्बार उसके अभ्यास द्वारा उसमें दक्ष होकर अनुभव द्वारा प्रत्यक्ष करनेयोग्य है। अत्यन्त सरल शैली से सबको समझ में आवे, वैसा यह सत्य है।

(ज्ञान प्रभावना की उत्तम वृत्तिपूर्वक गुरुदेवश्री कहते हैं कि) अभी तो लोगों को ऐसा सत्य मिले, इसके लिये सरल और सस्ता साहित्य बहुत प्रचार करनेयोग्य है। अन्यत्र बड़ा खर्च करने की अपेक्षा ऐसे परम सत्य का प्रचार हो, वैसा साहित्य 'सरल और सस्ता' बहुत बाहर आवे, वह करनेयोग्य है। यद्यपि सोनगढ़ से बहुत साहित्य प्रकाशित हुआ है और लोग भी बहुत पढ़ते हैं। दस लाख पुस्तकें तो प्रकाशित हो गयी हैं।\* तथापि अभी बहुत साहित्य सबको समझ में आवे, वैसी सरल भाषा में और सस्ती कीमत में अधिक से अधिक प्रकाशित हो और सच्चे ज्ञान का प्रचार हो, वैसा करनेयोग्य है। अभी तत्त्व के जिज्ञासु बहुत लोग तैयार हुए हैं और आत्मा के स्वभाव की ऐसी उत्कृष्ट बात प्रेम से सुनते हैं। जिज्ञासु लोगों के भाग्य से ऐसा वीतरागी सत्य बाहर आया है।

मैं स्वयं ज्ञानस्वभाव आत्मा हूँ—ऐसा पहले अन्दर निर्णय करना चाहिए। ज्ञान है, वह राग को जानता है परन्तु स्वयं रागरूप नहीं होता। ज्ञान की ताकत में राग ज्ञात हो जाता है, परन्तु अन्तर में उपयोग को जोड़कर जो शुद्ध आत्मा को अनुभव करता है, उसे तो उस काल में शुद्धनय से शुद्ध परमभाव का ही अनुभव है। उस समय तो व्यवहार का लक्ष्य भी नहीं है। व्यवहार के काल में व्यवहार का ज्ञान होता है; इसलिए उस काल में उस व्यवहार का ज्ञान प्रयोजनवान है परन्तु शुद्ध आत्मा की अनुभूति के

\* गुरुदेवश्री के इस प्रवचन तक दस लाख पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं। आज यह संख्या लाखों में तथा अन्य संस्थाओं से भी अनेक प्रकार का साहित्य प्रकाशित हो रहा है।



निर्विकल्प आनन्द के अवसर में तो व्यवहार का कोई प्रयोजन नहीं है; उसमें तो अभेद का ही साक्षात् अनुभव है। पर्याय में भले रागादि हों परन्तु शुद्धनय द्वारा देखने से राग एक ओर रह जाता है और शुद्ध आत्मा परमभावरूप से अनुभव में आता है। ऐसा अनुभव, वह आत्मा का जीवन है, वह सम्यग्दर्शन है। जैसे स्वर्णकार सोना और लाख को शामिल गिनकर कीमत नहीं गिनता परन्तु लाख को भिन्न करके अकेले स्वर्ण की कीमत गिनता है; उसी प्रकार शुद्धनयवाले ज्ञानी, आत्मा को और राग को मिलावट करके आत्मा की कीमत नहीं गिनते परन्तु राग को पृथक् करके अकेले ज्ञान-आनन्दरूप हुए शुद्ध आत्मा की कीमत गिनते हैं। वही शुद्धनय की दृष्टि से सच्चे आत्मा का अनुभव करते हैं, वही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है, वही मुमुक्षु जीव का जीवन है।

परभावों से भिन्न आत्मा के भूतार्थस्वभाव की अनुभूति, वह सम्यग्दर्शन है। कर्म के साथ मिलावटवाले अशुद्धभाव हैं, वे अभूतार्थ हैं और निर्मल गुण-पर्याय के भेद भी व्यवहारनय के विषय में हैं; शुद्ध आत्मा की अनुभूति में वे भेद नहीं हैं, इसलिए वे सब भेद अभूतार्थ हैं। वस्तु का स्वरूप समझने के लिये भेदरूप व्यवहार का उपदेश तो बहुत आता है परन्तु उसमें उस व्यवहार का आश्रय करने का प्रयोजन नहीं है। अभेदस्वभाव बतलाने के लिये व्यवहारी जीव की भाषा में व्यवहार से भेद करके कहने में आया है परन्तु कहनेवाले का आशय परमार्थस्वरूप बतलाने का है और श्रोता भी यदि ऐसा आशय समझकर परमार्थस्वरूप को लक्ष्य में ले तो उसने सच्चा श्रवण किया है।

परमार्थस्वरूप अभेद आत्मा को दृष्टि में लेकर उसका अनुभव करने से उसमें गुणभेद या पर्यायभेद दिखायी नहीं देते, उसमें राग या परद्रव्य का सम्बन्ध नहीं है। ऐसी दृष्टिपूर्वक पर्याय का भी ज्ञान धर्मी करता है, वह व्यवहार है। अपनी शुद्धपर्याय को भेद पाड़कर जानना, वह भी व्यवहार है और उस भूमिका में जिनेन्द्रभगवान की भक्ति का भाव, गुरु के बहुमान का भाव, शास्त्र रचना इत्यादि का भाव, गृहस्थ को जिनपूजा, आहारदान इत्यादि का भाव—ऐसे भावों को उस-उस काल में धर्मी जानता है, वह



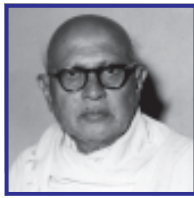
व्यवहार है। ज्ञान में ज्ञेयरूप से उस-उस प्रकार का व्यवहार ज्ञात होता है। व्यवहार में तन्मय हुए बिना साधक उसे जानता है। शुद्ध द्रव्य के ज्ञान के साथ अपनी पर्याय का भी ज्ञान होता है और वह ज्ञान, साधक को उस-उस काल में प्रयोजनवान है। उस काल में अर्थात् जब विकल्प है, पर्याय पर लक्ष्य जाता है, तब वह पर्याय का ज्ञान करता है। जिसे शुद्ध आत्मा के अनुभव में लीनता ही है, उसे तो विकल्प ही नहीं है, पर्याय के भेद का लक्ष्य ही नहीं है; इसलिए उसे उस व्यवहार को जानने का प्रयोजन नहीं रहा, वह तो साक्षात् परमार्थ शुद्ध आत्मा को ही अनुभव करता है।

सम्यग्दृष्टि जीव की छोटी से छोटी दशा को ज्ञान की जघन्यदशा कहा जाता है, केवलज्ञान हो, वह ज्ञान का उत्कृष्टभाव है। इसके अतिरिक्त साधकदशा के जितने प्रकार हैं, वे सब मध्यमभाव हैं। अब व्यवहारनय तो परद्रव्य के सम्बन्ध से अशुद्धभाव को कहनेवाला है, अर्थात् पर्याय की अशुद्धता को वह दिखलाता है। परमार्थ में शुद्ध आत्मा का ही अनुभव है। साधक को ऐसे शुद्ध आत्मा का अनुभव हुआ है, इसलिए पर्याय में भी कितनी ही शुद्धता प्रगट हुई है और अभी पर्याय में कितनी ही अशुद्धता भी है। सविकल्पदशा में रागादिभाव होते हैं-ऐसे दोनों प्रकार साधक को एकसाथ वर्तते हैं। उनमें जब परमशुद्धस्वभाव के अनुभव में स्थिर नहीं और विकल्पदशा में है, तब पर्याय की शुद्धता-अशुद्धता इत्यादि प्रकारोंरूप व्यवहार को भी वह जानता है। व्यवहार में उत्सुकता न होने पर भी व्यवहार के प्रकार उसके ज्ञान में ज्ञेयरूप से ज्ञात हो जाते हैं-ऐसा स्व-पर प्रकाशक ज्ञान प्रयोजनवान है; राग का या व्यवहार का आश्रय करनेयोग्य है-ऐसा इसका अर्थ नहीं, परन्तु ज्ञान में ज्ञात हुआ वह व्यवहार प्रयोजनवान है। 'उस काल में प्रयोजनवान्' ऐसा कहकर उसका ज्ञान कराया है परन्तु उसका आश्रय तो छोड़नेयोग्य है। व्यवहार के भावों से भिन्न पड़कर परमार्थ आत्मा की दृष्टि की, तभी व्यवहार का ज्ञान सच्चा हुआ। जो परमार्थ की दृष्टि न करे और व्यवहार के आश्रय की बुद्धि रखे, उसे तो व्यवहार का भी सच्चा ज्ञान नहीं होता, उसे तो शास्त्रों में व्यवहारमूढ़ कहा है।



भाई! तेरे आत्मा में जो निश्चय और व्यवहार है, उसका यह रहस्य शास्त्रों में स्पष्ट किया है; उसे तू पहचान तो सही! निश्चय क्या और पर्याय में व्यवहार कैसा होता है?—उसे जानना चाहिए। व्यवहारनय भी जाननेयोग्य है परन्तु ग्रहण करनेयोग्य नहीं। सम्यक्त्वादि के लिये ग्रहण करनेयोग्य एक परमज्ञायकभाव ही है।

आत्मा का शुद्धस्वरूप एक प्रकार का है, उसे शुद्धनय देखता है; व्यवहार में पर्याय के अनेक प्रकार पड़ते हैं, उन्हें व्यवहारनय दिखाता है—ऐसे निश्चय-व्यवहारनय साधक को ही होते हैं; अज्ञानी को नहीं होते, केवली को नहीं होते। अज्ञानी को तो शुद्ध आत्मा की दृष्टि ही न होने से साधकभाव शुरु ही नहीं हुआ; और केवलज्ञानी को तो पूर्णता हो गयी है; बीच में जो साधक है, जिन्हें शुद्ध आत्मा की दृष्टि से साधकदशा शुरु हुई है, परन्तु अभी पूर्ण नहीं हुई, वे साधक जीव दोनों नयों के ज्ञानपूर्वक शुद्ध स्वभाव के आश्रय से शुद्धता को साधते जाते हैं। इसका नाम धर्म और मोक्षमार्ग है। जिसने इस प्रकार निश्चय-व्यवहार जानकर शुद्ध आत्मा की दृष्टि की, उसने अपने आत्मा में मोक्ष के लिये मङ्गल शिलान्यास किया। अब अल्पकाल में वह जीव, मोक्ष मन्दिर में अनन्त आनन्दसहित सादि-अनन्त काल तक विराजमान होगा। ●



तीर्थधाम मङ्गलायतन में  
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के  
125 वें जन्म-जयन्ती वर्ष महोत्सव के अन्तर्गत  
दिनांक 17 अप्रैल से 21 अप्रैल 2015 तक  
विशेष आयोजन

01 मई 2014 से प्रारम्भ इस 125 वें जन्म-जयन्ती महोत्सव वर्ष में पूरे वर्ष तक आयोजित कार्यक्रमों की रूपरेखा आगामी अङ्कों में प्रकाशित की जाएगी।

ध्यान रखें - अभी से 17 अप्रैल से 21 अप्रैल 2015 की तिथि तीर्थधाम मङ्गलायतन के लिये सुनिश्चित कर लें।

निवेदक : तीर्थधाम मङ्गलायतन परिवार, अलीगढ़





तेरे हित के लिये सन्तों का तुझे अपूर्व आशीर्वाद है

## सुखी होने का आशीर्वाद

जिस प्रकार सूर्य को आकाश में रहने के लिये किसी स्तम्भ के सहारे की आवश्यकता नहीं पड़ती, उसे उष्णता के लिये अथवा प्रकाश के लिये कोई कोयला या तेल इत्यादि ईंधन की आवश्यकता नहीं पड़ती; अपने वैसे स्वभाव से ही वह आकाश में निरालम्बी उष्णता और प्रकाशवान है। उसी प्रकार सुख और ज्ञान जिसका स्वभाव है, ऐसी दिव्यशक्तिवाले आत्मा को अतीन्द्रियज्ञान और आनन्दरूप परिणमित होने के लिये किसी राग, पुण्य या इन्द्रियविषयों की पराधीनता नहीं है; उन सबकी अपेक्षा बिना स्वभाव से ही स्वयं स्वयमेव दिव्यज्ञान-सुख की शक्तिवाला देव है; सुख और ज्ञान, आत्मा का स्वभाव ही है; उस स्वभाव की प्राप्ति, वह इष्ट है। धर्मी को अपना ऐसा ज्ञान आनन्दमय सहजस्वभाव ही इष्ट—प्रिय में प्रिय है। जिसे चैतन्यपद इष्ट लगा, उसे जगत में दूसरा कुछ इष्ट नहीं लगता।

अहा! कुन्दकुन्दस्वामी ने और सर्व सन्तों ने हृदय खोल-खोलकर जो सुख के गीत गाये हैं, उस सुख के अनुभव की क्या बात! भगवान महावीर के मार्ग के अतिरिक्त ऐसा सुख दूसरा कौन बताये? श्रीगुरु आशीर्वाद देते हैं कि हे भव्यजीवों! महावीर के मार्ग को सेवन करो और आत्मा के सुख को प्राप्त करो।

सुखस्वभाव को पहचान कर तू सुखी हो। ऐसा सुखी हो कि पुनः अनन्त काल में कभी दुःख नहीं आवे।

आत्मा का अतीन्द्रियज्ञान एकान्त सुख है। ज्ञानस्वभाव जहाँ है, वहाँ सुखस्वभाव भी है ही; इसलिए गुणभेद न करो तो जो ज्ञान है, वही सुख है। जो अतीन्द्रियज्ञानरूप से परिणमित आत्मा, वह स्वयं ही अतीन्द्रिय-सुखरूप है। आत्मा में ज्ञान परिणमन के साथ सुख परिणमन भी शामिल ही है। सुखरहित ज्ञान या ज्ञानरहित सुख नहीं होता है।

कोई कहे कि हमें आत्मा का ज्ञान नहीं परन्तु हम सुखी हैं, तो



अतीन्द्रियज्ञान के बिना उसका सुख, वह सच्चा सुख नहीं है। उसने मात्र बाह्य विषयों में सुख की कल्पना की है और वह कल्पना मिथ्या है। विषयों की आकुलता में सुख कैसा? सुख तो अतीन्द्रियज्ञान में है। ज्ञान के बिना सुख नहीं होता।

कोई कहे कि हमें ज्ञान हुआ है परन्तु सुख नहीं है—तो उसने भी मात्र इन्द्रियज्ञान को ही ज्ञान माना है, वह सच्चा ज्ञान नहीं है। ज्ञान तो आकुलतारहित सुखस्वरूप होता है। सुख के वेदनरहित का ज्ञान कैसा? वह ज्ञान नहीं परन्तु अज्ञान है।

इस प्रकार ज्ञान और सुख ये दोनों आत्मा का स्वभाव है। प्रभो! तेरा ज्ञान और तेरा सुख दोनों अचिन्त्य, इन्द्रियातीत, अद्भुत है; उसे पहचाननेवाला ज्ञान, इन्द्रियों से पार होकर अतीन्द्रिय-महान ज्ञानसामान्य में झुककर तन्मय होता है और तब अपने में ही उसे महान सुख का अनुभव होता है। अहो! ऐसे अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख तो मेरा स्वभाव ही है। मैं मेरे स्वभाव से ही ऐसे महान ज्ञान और सुखरूप होता हूँ; उसमें जगत के दूसरे किसी की अपेक्षा मुझे नहीं है। अरे! सुख में तन्मय हुई मेरी ज्ञानचेतना को जहाँ राग के साथ भी सम्बन्ध नहीं, वहाँ बाहर में दूसरे किसी के साथ सम्बन्ध कैसा? इस प्रकार धर्मी जीव अपनी ज्ञानचेतना में किसी भी परभाव को नहीं मिलाता; शुद्ध ज्ञान-उपयोगरूप से परिणमते-परिणमते वह मोक्ष के महान आनन्द को साधता है।

– यह है मोक्ष का मंगल उत्सव!

### वैराग्य समाचार

**मुम्बई :** श्री प्रदीप बेलजीभाई शाह का अत्यन्त शान्त परिणामों से देह परिवर्तन हुआ है। विदित हो कि आप श्री दिलीपभाई शाह के लघुभ्राता थे एवं वीतरागी तत्त्वज्ञान के प्रति अत्यन्त निष्ठाभाव से समर्पित होने के साथ-साथ उसके प्रचार-प्रसार में भी निरन्तर सहयोग प्रदान करते थे। तीर्थधाम मङ्गलायतन परिवार आपके अभ्युदय की मङ्गल कामना करते हुए संतप्त परिजनों को हार्दिक संवेदनाएँ व्यक्त करता है।



### जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व

## नव तत्त्व का स्वरूप और

## जीव-अजीव के परिणामन की स्वतन्त्रता

यह धर्म की बात चलती है। सबसे पहला धर्म, सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन कैसे हो? उसकी बात इस तेरहवीं गाथा में है। जिसे आत्मा का धर्म करना है, उसे प्रथम नव तत्त्वों का पृथक्-पृथक् ज्ञान करना चाहिए। ये नव तत्त्व पर्यायगत हैं। त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि में नव प्रकार के भेद नहीं हैं; इसलिए स्वभाव के अनुभवरूप आनन्द के समय तो नव तत्त्वों का लक्ष्य छूट जाता है परन्तु सर्व प्रथम जो नव तत्त्वों को पृथक्-पृथक् नहीं समझता, उसे एक अभेद आत्मा की श्रद्धा और अनुभव नहीं हो सकता।

नव तत्त्व को व्यवहार से जैसा है, वैसा जानकर उन नव में से एक अभेद चैतन्यतत्त्व की अन्तर्दृष्टि व प्रतीति शुद्धनय से करना, वह निश्चयसम्यग्दर्शन है और वही सच्चे धर्म की शुरुआत है। यह बात समझे बिना अज्ञानी जीव, बाह्य क्रियाकाण्ड के लक्ष्य से राग की मन्दता से पुण्य बाँधकर चार गतियों में परिभ्रमण करते हैं परन्तु आत्मा का कल्याण क्या है? यह बात उन्हें नहीं सूझती और उन्हें धर्म भी नहीं होता।

आत्मा त्रिकाली चैतन्यवस्तु है, वह जीव है और शरीरादि अचेतन वस्तुएँ हैं, वे अजीव हैं। जीवतत्त्व तो त्रिकाल चैतन्यमय है, उसकी अवस्था में अजीव के लक्ष्य से विकार होता है, वह वास्तव में जीवतत्त्व नहीं है, फिर भी उसकी अवस्था में पुण्य-पाप के विकार होने की योग्यता जीव की अपनी है। दया, पूजा इत्यादि भाव, वह शुभराग हैं, पुण्य है; उस विकाररूप होने की योग्यता जीव की अपनी अवस्था में है और उसमें निमित्तरूप अजीव परमाणुओं में भी पुण्यकर्मरूप होने की स्वतन्त्र योग्यता है।

पुण्य के असंख्य प्रकार हैं, उसमें जीव अपनी जैसी भूमिका हो, जैसे परिणामरूप परिणमता है। पुण्य के असंख्यात प्रकारों में से किसी समय दया का विकल्प होता है, किसी समय ब्रह्मचर्य का विकल्प होता है,



किसी समय दान का अथवा पूजा-भक्ति-स्वाध्याय का विकल्प होता है, किसी समय नव तत्त्व के विचार का सूक्ष्म विकल्प होता है - ऐसी उस-उस भूमिका के परिणाम की ही योग्यता है। जब अपनी एक पर्याय के कारण भी दूसरी पर्याय नहीं होती तो फिर निमित्त से आत्मा का भाव हो - यह बात तो कहाँ रही ?

पुण्य की तरह हिंसा, कुटिलता इत्यादि पापपरिणाम हों, उनमें भी उस-उस क्षण की, उस जीव की अवस्था में वैसी ही उलटी योग्यता है अर्थात् जीव, विकारी होने योग्य है और पुद्गलकर्म उसमें निमित्त है; इसलिए उसे विकार **करानेवाला** कहते हैं। जीव और अजीव दोनों पदार्थों की अवस्था अपनी-अपनी स्वतन्त्र योग्यता से ही होती है। कोई एक दूसरे के कर्ता नहीं हैं परन्तु पुण्य-पाप इत्यादि जीव की विकारी पर्याय हैं; इसलिए उसमें निमित्त का भी ज्ञान कराते हैं। अकेले जीवतत्त्व में अपनी ही अपेक्षा से सात भेद नहीं पड़ते हैं। एक तत्त्व में सात अवस्था के प्रकार पड़ने पर उसमें निमित्त की अपेक्षा आती है। आत्मा की अवस्था में पुण्य-पाप होने में जीव की योग्यता है और अजीव उसमें निमित्त है, उस निमित्त को भी पुण्य-पाप कहा जाता है।

पाँचवाँ, आस्रवतत्त्व है। उस आस्रवतत्त्व के भी असंख्य प्रकार हैं। उस आस्रवरूप होने की जीव की योग्यता है। यहाँ 'योग्यता' कहकर आचार्यदेव ने जीव के परिणाम की स्वतन्त्रता बतलायी है। जो जीव के परिणाम की स्वतन्त्रता निश्चित न करे, उसमें त्रिकाली स्वयं-सिद्ध स्वतन्त्र वस्तु की श्रद्धा करके, सम्यग्दर्शन प्रगट करने की योग्यता नहीं हो सकती।

जीव की अवस्था में जो आस्रवभाव होता है, वह जीव आस्रव है और उसमें निमित्तरूप अजीवकर्म, वह अजीवआस्रव है। यदि विकारी आस्रव को ही जीवतत्त्व में लें तो वह जीव, विकार में ही अटक जाएगा और उसे धर्म नहीं होगा। अवस्था में वह विकार अपने अपराध से होता है - यदि ऐसा नहीं जानें तो उस विकार के अभाव का प्रसङ्ग कैसे बनेगा ? जीव की अवस्था में जैसे परिणाम की योग्यता होती है, वैसा आस्रव आदि भाव





होता है - ऐसा आचार्यदेव ने कहा है। तात्पर्य यह है कि शरीरादि बाह्य की क्रिया से आस्रव होता है, यह बात उड़ा दी है। जीव-अजीव की पर्याय की इतनी स्वतन्त्रता स्वीकार करें, तब नव तत्त्व को व्यवहार से स्वीकार किया कहा जाता है।

जीव के जिस विकारीभाव के निमित्त से जड़कर्मों का आना होता है, उस भाव को आस्रव कहते हैं, वह जीव आस्रव है। एक समयमात्र का आस्रव, जीव की योग्यता से होता है - ऐसा निश्चित किया, उसमें उस समय कर्तृत्व-भोक्तृत्व इत्यादि गुण की वैसी ही योग्यता है - ऐसा भी आ जाता है। ज्ञान को वैसा ही जानने की योग्यता है; चारित्र में उसी प्रकार के परिणामन की योग्यता है; इसलिए पर के समक्ष देखना नहीं रहता, किन्तु अपनी योग्यता के समक्ष देखना रहा।

यदि प्रत्येक समय की स्वतन्त्रता निश्चित करे तो पर के आश्रय की मिथ्याबुद्धि छूट जाए तथा एक समय की पर्याय की योग्यता जितना मेरा स्वरूप नहीं है - ऐसा निश्चित करके, एक समय की पर्याय का आश्रय छोड़कर, त्रिकालीस्वभाव के सन्मुख ढले बिना नहीं रहे। 'पर्याय का आश्रय छोड़ना' - ऐसा समझने के लिए कहा जाता है परन्तु वस्तुतः तो अखण्ड द्रव्य के सन्मुख ढलने पर पर्याय का आश्रय रहता ही नहीं है। मैं पर्याय का आश्रय छोड़ूँ - ऐसे लक्ष्य से पर्याय का आश्रय नहीं छूटता है; पर्याय को द्रव्य में अन्तर्लीन करने पर पर्याय का आश्रय छूट जाता है।

नव तत्त्व की श्रद्धा के बिना सीधे आत्मा की श्रद्धा नहीं होती है और नव तत्त्व की श्रद्धा के विकल्प करनेमात्र से सम्यग्दर्शन नहीं हो जाता है।

जीव की पर्याय और अजीव की पर्याय - ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं। जीव के विकार के कारण जड़कर्म में आस्रवदशा होती है - ऐसा नहीं है परन्तु उस अजीव में वैसी योग्यता है और अजीवकर्म के कारण आत्मा में विकार होता है - ऐसा भी नहीं है; वहाँ जीव की अपनी वर्तमान योग्यता है। प्रति समय कर्म के जो-जो रजकण आते हैं, वह विकार के प्रमाण में ही आते हैं - ऐसा निमित्त-नैमित्तिक का सुमेल होने पर भी विकार के



कारण वे रजकण नहीं आते; दोनों का वैसा ही स्वभाव है। जैसे, तराजू के एक पलड़े में एक किलो का बाँट रखकर, दूसरे पलड़े में एक किलो वस्तु रखे तब काँटा बराबर रहता है – ऐसा ही उसका स्वभाव है; उसमें उसे ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार जड़कर्मों को कुछ पता नहीं है कि इस जीव ने कितना विकार किया है; इसलिए उसके पास जाऊँ? परन्तु उसकी अपनी योग्यता से ही वह वैसे कर्मरूप परिणम जाता है। विकार के प्रमाण में ही कर्म आते हैं – ऐसा उनका स्वभाव है। विकार को जानकर आस्रवरहित शुद्ध आत्मा की श्रद्धा करना ही प्रयोजन है। यह जानकर भी शुद्ध आत्मा की श्रद्धा किये बिना, कभी धर्म नहीं होता है।

छठवाँ, संवरतत्त्व है। संवर अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यरूप निर्मलदशा। वह संवर कोई देव-शास्त्र-गुरु से अथवा बाह्य क्रिया से नहीं होता, किन्तु जीव की अपनी योग्यता से होता है। वह संवर, जीवद्रव्य के आश्रय से होता है परन्तु यहाँ संवरतत्त्व किस प्रकार प्रगट होता है? यह बात नहीं बतलाना है। यहाँ तो मात्र संवरतत्त्व है, इतना ही सिद्ध करना है। संवरतत्त्व कैसे प्रगट हो? – यह बात बाद में की जाएगी। जड़कर्म हटें तो सम्यग्दर्शनादि होते हैं – ऐसी परतन्त्रता नहीं है। सम्यग्दर्शनादि होने की योग्यता जीव की अपनी है। अन्तरस्वभाव में एकता होने पर जो संवर-निर्जरा के शुद्ध अंश प्रगट होते हैं, वह तो अभेद आत्मा में एकरूप हो जाते हैं परन्तु जब नव तत्त्व के भेद से विचार करते हैं, तब जीव की पर्याय की योग्यता है – ऐसा कहते हैं। उसमें द्रव्य-पर्याय का भेद पाड़कर कथन है। नव तत्त्व के भेद पाड़कर संवर-पर्याय को लक्ष्य में लेने से कर्म के निमित्त की अपेक्षा आती है। अकेले अभेदस्वभाव की दृष्टि में तो वह भेद नहीं पड़ते हैं। संवर की निर्मलपर्याय प्रगट हुई, वह अभेद में ही मिल जाती है।

जीव में संवर के काल में कर्म के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय की ही योग्यता उसके कारण ही होती है, वह अजीवसंवर है। जीव में विकार के समय, कर्म में उदय की योग्यता होती है और जीव में संवर के समय,



कर्म में उपशम इत्यादि की ही योग्यता होती है - ऐसा ही निमित्त - नैमित्तिक सम्बन्ध है। अकेले जीवतत्त्व को ही लक्ष्य में लो तो सात तत्त्व के भेद नहीं पड़ते हैं तथा अकेले अजीवतत्त्व को ही लक्ष्य में लो तो भी सात तत्त्व के भेद नहीं पड़ते हैं। जीव और अजीव को एक-दूसरे की अपेक्षा से अवस्था में सात तत्त्व होते हैं। उन दोनों की अवस्था में सात तत्त्वरूप परिणमन होता है। जीव में सात तथा अजीव में भी सात भेद पड़ते हैं। उन सात तत्त्वों का लक्ष्य छोड़कर, अकेले चैतन्यतत्त्व को ही अभेदरूप से लक्ष्य में लेने पर उसमें सात प्रकार नहीं पड़ते और सात प्रकार के विकल्प उत्पन्न नहीं होते, परन्तु निर्मलपर्याय होकर अभेद में मिल जाती है।

जगत् में जीव और अजीव वस्तुएँ भिन्न-भिन्न हैं - ऐसा मानकर उनका स्वतन्त्र परिणमन मानें और उसमें एक-दूसरे की अपेक्षा मानें, तब नव तत्त्वों को व्यवहार से माना जा सकता है परन्तु इस जगत् में अकेला ब्रह्मस्वरूप आत्मा ही है अथवा अकेले जड़ पदार्थ ही हैं - ऐसा मानें अथवा जड़-चेतन दोनों अवस्था स्वतन्त्र नहीं मानें तो उसे नव तत्त्वों की यथार्थ मान्यता नहीं हो सकती है। नव तत्त्वों को मानने में तो व्यवहारवीर्य है अर्थात् शुभविकल्प का अल्प वीर्य है और फिर अनन्त वीर्यरूप चैतन्यद्रव्य की तरफ ढले, तब एक शुद्ध आत्मा की प्रतीति होती है।

नव तत्त्व की प्रतीति की अपेक्षा अभेद चैतन्यतत्त्व की प्रतीति करने में अलग ही जाति का बेहद पुरुषार्थ है परन्तु जिसमें एक पैसा देने की सामर्थ्य नहीं है, वह अरबों रुपये कहाँ से दे सकेगा? इसी प्रकार जो कुदेवादि को मानता है, उसमें नव तत्त्व के सच्चे विचार की भी ताकत नहीं है। जहाँ नव तत्त्व के विचार की भी ताकत नहीं है, वहाँ वह जीव, अभेद आत्मा की निर्विकल्पश्रद्धा, अनुभव कैसे कर सकेगा? और इसके बिना उसे धर्म अथवा शान्ति नहीं होगी।

यहाँ आचार्यदेव शुद्ध आत्मतत्त्व का अनुभव कराने के लक्ष्य से प्रथम तो नव तत्त्वों की पहचान कराते हैं। उसमें से छठवें संवर तत्त्व की व्याख्या



चल रही है। जीव और अजीव को ऐसा निमित्त – नैमित्तिक सम्बन्ध है कि जीव की अवस्था में जब निर्मल सम्यग्दर्शन आदि भाव प्रगट होकर अशुद्धता रूक जाती है, तब अजीव परमाणुओं में भी कर्मरूप परिणमन नहीं होता, इसे संवर कहते हैं। जीव में संवररूप होने की योग्यता है और अजीव परमाणु उसमें निमित्त होने से उन्हें संवर कहते हैं।

जीव के निर्मलभाव का निमित्त पाकर कर्म के परमाणु आना रुक गये, उसे संवर कहते हैं।

**प्रश्न** – क्या परमाणु आते हुए रुक गये ?

**उत्तर** – परमाणु आना ही नहीं थे; इसलिए नहीं आये। ‘कोई अमुक परमाणुओं में कर्मरूप परिणमन होना था परन्तु जीव में शुद्धभाव प्रगट होने के कारण वह परिणमन रुक गया’ – ऐसा नहीं है। उन परमाणुओं में भी उस समय कर्मरूप होने की योग्यता ही नहीं थी। शास्त्रों में तो अनेक प्रकार की शैली से कथन आता है परन्तु वस्तुस्वरूप क्या है ? – वह लक्ष्य में रखकर इसका आशय समझना चाहिए।

पहले विकार के समय कर्म-परमाणु आते थे और अब संवरभाव प्रगट हुआ, उस समय कर्म-परमाणु नहीं आते, उसे संवर कहा है। जीव-अजीव दोनों का ऐसा सहज मेल है कि जहाँ आत्मा में धर्म की योग्यता और संवरभाव प्रगट हुआ, वहाँ उसे कर्मों का आना होता ही नहीं, पुद्गल में उस समय वैसा परिणमन होता ही नहीं; इसलिए आने योग्य नहीं थे उन परमाणुओं को संवर में निमित्त कहा अर्थात् पुद्गल में कर्मरूप परिणमन के अभाव को संवर में निमित्त कहा है।

अहो ! प्रत्येक द्रव्य और पर्याय की स्वतन्त्रता जाने बिना स्वतत्त्व की रुचि करके स्वभाव तरफ ढलेगा कब ? नव तत्त्व के ज्ञान में प्रत्येक द्रव्य-पर्याय की स्वतन्त्रता का ज्ञान तथा देव-शास्त्र-गुरु का ज्ञान भी आ जाता है।

सातवाँ, निर्जरा तत्त्व है। आत्मा का भान होने पर अशुद्धता का अभाव होता जाता है और शुद्धता बढ़ती जाती है, इसका नाम निर्जरा है। वह जीव की अवस्था की योग्यता है, किसी बाहर की क्रिया से वह योग्यता नहीं



हुई है। जीव में निर्जराभाव प्रगट हो, उस काल में कर्म खिर जाते हैं, वह अजीवनिर्जरा है, उसमें अजीव की योग्यता है। जीव और अजीव दोनों में अपनी-अपनी निर्जरा की योग्यता है। आत्मस्वभाव की दृष्टि और एकाग्रता द्वारा चैतन्य की शुद्धता होने पर अशुद्धता का अभाव हुआ, वह जीव की अपनी योग्यता है और उस समय निमित्तरूप कर्म उनके कारण स्वयं अभावरूप हुए हैं। आत्मा ने कर्मों का नाश किया है, यह कहना तो निमित्त का कथन है।

**णमो अरिहंताणं** के भावार्थ में भी अज्ञानी को आपत्ति लगे - ऐसा है। 'अरिहन्त अर्थात् कर्मरूपी शत्रु को हरनेवाले'; इसलिए भगवान के आत्मा ने जड़कर्मों का नाश किया है - ऐसा अज्ञानी तो वास्तव में मान लेगा, परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि नहीं; वास्तव में ऐसा नहीं है। जड़कर्म, आत्मा के शत्रु हैं और भगवान ने कर्मों का नाश किया है - यह कथन तो निमित्त से है। कोई जड़कर्म, आत्मा का शत्रु नहीं है तथा आत्मा किसी जड़कर्म का स्वामी नहीं है कि वह उसका अभाव कर दे। जीव, अज्ञानभाव से स्वयं अपना शत्रु था, तब निमित्त कर्मों को उपचार से शत्रु कहा गया और जीव ने शुद्धता प्रगट करके, अशुद्धता का अभाव किया, वहाँ निमित्तरूप कर्म भी स्वयं विनष्ट हो गये; इसलिए कर्मों ने आत्मा का नाश किया - ऐसा उपचार से कहा जाता है। इस प्रकार जीव और अजीव दोनों का भिन्नपना रखकर शास्त्रों का अर्थ समझना चाहिए।

अरिहन्त भगवान, भाषावर्गणा को ग्रहण करते हैं और फिर सामनेवाले जीव की योग्यता प्रमाण वह भाषा छोड़ते हैं - इस प्रकार जो भगवान को अजीव का कर्ता मानता है, वह अज्ञानी है। उसने जीव को अजीव का स्वामी माना है, उसे वस्तु की स्वतन्त्रता का पता नहीं है तथा केवली के स्वरूप का भी पता नहीं है। केवली को वाणी का कर्ता मानकर, वह केवलीप्रभु का अवर्णवाद करता है। वीतरागदेव क्या वस्तुस्वरूप कहते हैं ? - यह समझे बिना बहुत लोगों का मनुष्यजन्म व्यर्थ चला जा रहा है। सात तत्त्वों में जीव और अजीव के स्वतन्त्र निमित्त-नैमित्तिकपने की श्रद्धा



करना, वह तो व्यवहारश्रद्धा में आ जाती है; परमार्थश्रद्धा तो उससे अलग है। जितने प्रमाण में जीव शुद्धता करता है और अशुद्धता मिटती है, उतने ही प्रमाण में कर्मों की निर्जरा होती है; फिर भी दोनों का परिणमन स्वतन्त्र है। मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण पर्याय में वैसा मेल हो जाता है।

आठवाँ, बन्धतत्त्व है। जीव, विकारभाव में अटकता है, उसका नाम बन्धन है। बन्धनयोग्य जीव की अवस्था है और उसमें निमित्तरूप जड़कर्म को बन्धन करनेवाला कहते हैं परन्तु कर्म ने जीव को बन्धन कराया - ऐसा नहीं है; योग्यता तो जीव की अवस्था की है। आत्मा में बन्धन की योग्यता हुई; इसलिए कर्म को बँधना पड़ा - ऐसा भी नहीं है और कर्म के कारण जीव बँधा - ऐसा भी नहीं है। जिसने स्वभाव के एकपने की श्रद्धा की है, उसे पर्याय की योग्यता का यथार्थ ज्ञान होता है। मात्र नव तत्त्व को जाने, परन्तु अन्तर में स्वभाव की एकता की ओर नहीं ढले तो यथार्थ ज्ञान नहीं होता और सम्यग्दर्शन का लाभ नहीं होता।

जैसे, माता-पिता को हँसता देखकर कोई बालक भी साथ ही हँसने लगता है परन्तु वे किसलिए हँसते हैं? इसका उसे पता नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानी, आत्मा के सत् स्वभाव की अपूर्व बात करते हैं। वहाँ उसे समझकर उसकी हाँ करके जो उत्साह बताता है, वह तो आत्मा का अपूर्व लाभ प्राप्त करता है और कितने ही जीव यह बात समझे बिना उत्साह बताते हैं; ज्ञानी कुछ आत्मा की अच्छी बात कहते हैं - ऐसा विचार कर हाँ करके मान लेते हैं परन्तु उसका भाव क्या है? - वह स्वयं अन्तर में नहीं समझे तो उसे आत्मा की समझ का यथार्थ लाभ नहीं होता; मात्र पुण्य बँधकर छूट जाता है। अन्तर में स्वयं तत्त्व का निर्णय करे, उसी की वास्तविक कीमत है। स्वयं तत्त्व का निर्णय किये बिना हाँ करेगा तो वह टिकेगी नहीं।

**प्रश्न** - पर्यायदृष्टि से नव तत्त्व जानना व्यवहार है, उनसे अभेद आत्मा की श्रद्धा का लाभ नहीं होता; इसलिए उसमें उत्साह कैसे आयेगा?

**उत्तर** - व्यवहार का उत्साह करने को कौन कहते हैं? परन्तु जिसे





अभेद आत्मा के अनुभव का उत्साह है, उसे बीच में नव तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा आ जाती है। अभेदस्वभाव के लक्ष्य की ओर ढलने में प्रथम आँगनरूप में मिथ्या तत्त्व की मान्यता छोड़कर सच्चे नव तत्त्व का निर्णय करने में उत्साह आये बिना नहीं रहता, परन्तु नव तत्त्व के विकल्प की प्रधानता नहीं है, अपितु अभेद स्वभाव का लक्ष्य करने की प्रधानता है; उसका ही उत्साह है। नव तत्त्व का निर्णय भी कुतत्त्व से छुड़ानेमात्र ही कार्यकारी है। यदि पहले से ही अभेद चैतन्य को लक्ष्य में लेने का आशय हो तो बीच में आयी हुई नव तत्त्व की श्रद्धा को व्यवहारश्रद्धा कहते हैं परन्तु जिसे पहले से ही व्यवहार के आश्रय की बुद्धि है, वह जीव तो व्यवहारमूढ है; उसे नव तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा भी सच्ची नहीं है।

मात्र नव तत्त्व के विचार से सम्यग्दर्शन नहीं होता, परन्तु अभेद स्वरूप के अनुभव में नहीं पहुँच सके, तब बीच में अभेद के लक्ष्य से नव तत्त्व के विचार आये बिना नहीं रहते हैं। जिस प्रकार वारदान के बिना माल नहीं होता और वारदान स्वयं भी माल नहीं है; इसी प्रकार नव तत्त्व को जाने बिना सम्यक्श्रद्धा नहीं होती और नव तत्त्व के विचार भी स्वयं सम्यक्श्रद्धा नहीं है। विकल्प से भिन्न पढ़कर अभेद आत्मा का अनुभव करना ही सम्यक्श्रद्धा का लक्षण है - ऐसा सम्यग्दर्शन का निश्चय-व्यवहार है।

चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा का अनुभव करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही आत्मार्थी जीव का पहला कर्तव्य है; इसके अतिरिक्त जगत् के दूसरे किसी बाह्य कर्तव्य को आत्मार्थी जीव अपना कर्तव्य मानता ही नहीं है।

अहो! जीव का स्वभाव ज्ञायक शुद्ध चैतन्य है। उसमें तो बन्धन अथवा अपूर्णता नहीं है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से तो जीव में बन्ध-मोक्ष इत्यादि सातों तत्त्व नहीं हैं परन्तु वर्तमान अवस्था में विकार से भावबन्धन की योग्यता है। कर्मों ने जीव को परिभ्रमण नहीं कराया है, कर्म तो निमित्तमात्र हैं; जीव अपने विकार से परिभ्रमण करे, तब कर्मों को निमित्तरूप से परिभ्रमण करानेवाला कहा है। बड़े-बड़े नामधारी त्यागी और विद्वान्



भी इस बात में गोता खाते हैं। जैसे, पानी के संयोग का ज्ञान कराने के लिए पीतल के कलश को भी पानी का कलश कहते हैं; उसी प्रकार जब जीव अपने विपरीतभाव से परिभ्रमण करता है, तब निमित्तरूप में जड़कर्म होते हैं, यह बताने के लिए 'कर्म ने जीव को परिभ्रमण कराया' - ऐसा व्यवहार का कथन है। उसके बदले अज्ञानी उस कथन को भी पकड़ बैठे हैं।

देखो! कर्मों ने जीव को परिभ्रमण कराया - ऐसी मान्यता को तो यहाँ व्यवहारश्रद्धा में भी नहीं लिया है। जीव-अजीव को भिन्न-भिन्न जानें, जीव की अवस्था में बन्धतत्त्व की योग्यता है और पुद्गल में कर्मरूप होने की उसकी स्वतन्त्र योग्यता है - ऐसे दोनों को भिन्न-भिन्न जानें, उसे यहाँ व्यवहारश्रद्धा कहा जाता है और वह सम्यग्दर्शन का व्यवहार है।

अभी लोगों को सम्यग्दर्शन के व्यवहार का भी ठिकाना नहीं है और वे चारित्र के व्यवहार में उतर पड़े हैं। अनादि की बाह्यदृष्टि है; इसलिए शीघ्र बाह्य त्याग में उतर पड़ते हैं। बाहर से कुछ त्याग दिखता है, इसलिए हमने कुछ किया है - ऐसा मानकर सन्तुष्ट हो जाते हैं परन्तु अन्दर में तो महा मिथ्यात्व का पोषण होता है, उसका कहाँ भान है? मिथ्यात्व अनन्त संसार के परिभ्रमण का कारण है, उसके अभाव की दरकार भी नहीं करते हैं। अन्दर में सूक्ष्म मिथ्यात्वसहित बाह्य त्याग करके जीव नौवें ग्रैवेयक तक गया है और चार गतियों में परिभ्रमण किया है। देखो, नौवें ग्रैवेयक जानेवाले की व्यवहारश्रद्धा तो सही होती है। अभी के बहुत से लोगों में तो वैसी नव तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है तो फिर धर्म का मार्ग तो अन्दर की परमार्थश्रद्धा में है, उसकी तो बात ही क्या है?

जीव और अजीव की प्रति समय की स्वतन्त्रता स्वीकार करके सात तत्त्वों को जाननेवाले को तो व्यवहार सम्यग्दर्शन हुआ और विकल्पपरहित होकर अन्तर में अभेद चैतन्यतत्त्व का अनुभव और प्रतीति करे, तब परमार्थ सम्यग्दर्शन होता है; वही आत्मार्थी जीव का पहला कर्तव्य है। ●

[ समयसार, गाथा 13 पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन ]



यादें : अतीत की.....

.....तब पूज्य गुरुदेवश्री ने कहा था

## धर्मसाधन

पूज्य गुरुदेवश्री के व्याख्यान से

धर्म के लिये प्रधानतया दो वस्तुओं की आवश्यकता है —  
१. क्षेत्रविशुद्धि, २. यथार्थ बीज।

**क्षेत्रविशुद्धि** - संसार के अशुभ निमित्तों के प्रति जो आसक्ति है, उसमें मन्दता, ब्रह्मचर्य का राग, कषाय की मंदता, देव-गुरु के प्रति भक्ति तथा सत् की रुचि, आदि का होना क्षेत्रविशुद्धि है। वह प्रथम होना ही चाहिये।

किन्तु केवल क्षेत्रविशुद्धि से ही धर्म नहीं होता। क्षेत्रविशुद्धि तो प्रत्येक जीव ने अनेक बार की है; क्षेत्रविशुद्धि (यदि भानसहित हो) तो बाह्यसाधन है, व्यवहार साधन है।

पहले क्षेत्रविशुद्धि के बिना कभी धर्म नहीं हो सकता, किन्तु क्षेत्रविशुद्धि के होने पर भी यदि यथार्थ बीज न हो तो भी धर्म नहीं हो सकता।

**यथार्थ बीज** - मेरा स्वभाव निरपेक्ष बन्ध-मोक्ष के भेद से रहित, स्वतन्त्र, पर निमित्त के आश्रय से रहित है; स्वाश्रय स्वभाव के बल पर ही मेरी शुद्धता प्रगट होती है; इस प्रकार से अखण्ड निरपेक्षस्वभाव की निश्चयश्रद्धा का होना, सो यथार्थ बीज है। वही अन्तर साधन अर्थात् निश्चय साधन है। जीव ने कभी अनादि काल में स्वभाव की निश्चयश्रद्धा नहीं की है। उस श्रद्धा के बिना अनेक बार बाह्य साधन किये, फिर भी धर्म प्राप्त नहीं हुआ।

इसलिये धर्म में मुख्य साधन है यथार्थ श्रद्धा; और जहाँ यथार्थ श्रद्धा होती है, वहीं बाह्य साधन स्वतः प्राप्त होते हैं। बिना यथार्थ श्रद्धा के केवल बाह्य साधन से कभी भी धर्म नहीं होता...।

इसलिए प्रत्येक जीव का प्रथम कर्तव्य आत्मस्वरूप की यथार्थ श्रद्धा



करना है। अनन्त काल में दुर्लभ नर देह, और फिर उसमें उत्तम जैनधर्म तथा सत् समागम का योग मिलने पर भी, यदि स्वभाव-बल से सत् की श्रद्धा नहीं की तो फिर चौरासी के जन्म-मरण में ऐसी उत्तम नर देह मिलना दुर्लभ है।

आचार्य महाराज कहते हैं कि एक बार स्वाश्रय की श्रद्धा करके इतना तो कह कि 'पर का आश्रय नहीं है;' बस, इस प्रकार स्वाश्रय की श्रद्धा करने से तेरी मुक्ति निश्चित है। सभी आत्मा प्रभु हैं। जिसने अपनी प्रभुता को मान लिया, वह प्रभु हो गया।

इस प्रकार प्रत्येक जीव का सर्व प्रथम कर्तव्य सत्समागम होने पर, स्वभाव की यथार्थ श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) करना है। निश्चय से यही धर्म (मुक्ति) का प्रथम साधन है।

( आत्मधर्म, वर्ष-1, अंक-4, अक्टूबर सन् 1945 )

### पण्डितजी की डायरी



दिनांक 2-1-94

(1) आज सारा विश्व-शरीरादि अजीवतत्त्व को अपना मानकर धर्म की बातें करता है; अतः जो शरीर को अपना मानकर धर्म की बातें करता है, उसे कभी धर्म की प्राप्ति नहीं होगी।

(2) तू अजीवतत्त्व नहीं; जीवतत्त्व है, इतना निर्णय कर तो बेड़ा पार हो जावे।

(3) देखो, तत्त्वविचार की महिमा! क्षणभर में अपने परमात्मा को जान जाता है।

(4) तत्त्वविचार न करे — शास्त्रादि पढ़े, माला जपे, व्रतादि पाले तो भी सम्यक्त्व का अधिकारी नहीं है।

(5) समस्त जिन-जिनवर-जिनवर वृषभों को आदेश है कि जब यह जीव, स्व-पर को यथार्थ जानेगा, तभी 'सहि मुक्त एव' बन जावेगा।

— स्वर्गीय पण्डित कैलाशचन्द्र जैन



## आचार्य कुन्दकुन्द के पदारोहण दिवस पर विशेष कार्यक्रम

**तीर्थधाम मङ्गलायतन :** जिन्होंने इस विषम पंचम काल में भरतक्षेत्र में तीर्थङ्कर भगवन्तों के वीतरागी सन्मार्ग को समयसारादि परमागमों में गूँथकर अनन्त उपकार किया है ऐसे कलिकाल सर्वज्ञ श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव का आचार्य पदारोहण दिवस दिनांक 19 नवम्बर 2013 को अत्यन्त उल्लास एवं भक्तिपूर्वक मनाया गया। इस अवसर पर प्रातः काल जिनमन्दिर में जिनेन्द्र पूजा के उपरान्त भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव की पूजन की गयी। तत्पश्चात् पूज्य गुरुदेवश्री के माङ्गलिक सी.डी. प्रवचन में आचार्यदेव की लोकोत्तर महिमा का श्रवण किया। सायंकालीन कार्यक्रमों की शृंखला में भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन के मङ्गलार्थी छात्रों द्वारा एक गोष्ठी का आयोजन किया गया, जिसमें अनेक वक्ताओं ने आचार्यदेव की लोकोत्तर महिमा; विदेह गमन; परमागमों की रचना; उत्तरवर्ती आचार्यों पर प्रभाव इत्यादि विषयों पर अपने विचार प्रस्तुत किये।

## मङ्गलायतन में गुरुदेवश्री का तैंतीसवाँ समाधि दिवस

**तीर्थधाम मङ्गलायतन :** वीतरागी जिनेन्द्र परमात्मा एवं स्वरूपनिष्ठ वीतरागी सन्तों के आत्महितकारी उपदेशों को अपने सातिशय स्वानुभूतियुक्त वाणी द्वारा जिन्होंने देश-विदेश में प्रचारित किया; जो लोकोत्तर पुण्य एवं पवित्रता की प्रतिमूर्ति थे; जिन्हें पाकर भरतक्षेत्र गौरवान्वित हुआ है ऐसे परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री के 33 वें समाधि दिवस के अवसर पर तीर्थधाम मङ्गलायतन में अत्यन्त सादगी एवं वैराग्यपूर्ण वातावरण में एक विचार गोष्ठी का आयोजन किया गया। इस विचार गोष्ठी में यहाँ संचालित भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन के मङ्गलार्थी छात्रों तथा बाल ब्रह्मचारिणी कल्पनाबेन, पण्डित संजय शास्त्री, पण्डित सुधीर शास्त्री, पण्डित आशीष शास्त्री इत्यादि ने गुरुदेवश्री के जीवन के विभिन्न प्रसङ्गों एवं उनके आत्महितकारी उपदेशों को अपनी-अपनी भाषा में प्रस्तुत किया।

अन्त में सभी मङ्गलार्थी छात्रों ने पूज्य गुरुदेवश्री के द्वारा दर्शाये गये वीतरागी सन्तों के आत्महितकारी मार्ग पर निरन्तर चलने की भावना के साथ गुरुदेवश्री को अपने श्रद्धासुमन समर्पित किये।



## पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी की 125 वीं

### जन्म-जयन्ती के अवसर पर

#### मङ्गलायतन मासिक पत्रिका की विशेषाङ्क शृंखला

- ( 1 ) मई 2014 - युगपुरुष की सवा शताब्दी वर्ष का मङ्गल प्रारम्भ : जन्मपूर्व एवं पश्चात की परिस्थिति, परिवर्तन का आधार-साहस
- ( 2 ) जून 2014 - पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी में प्रवाहित वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु के प्रति अहो भाव
- ( 3 ) जुलाई 2014 - पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी का प्रतिपादन केन्द्र बिन्दु भगवान आत्मा
- ( 4 ) अगस्त 2014 - पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी में निश्चय-व्यवहार : स्वरूप एवं प्रयोग
- ( 5 ) सितम्बर 2014 - पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी में कारण-कार्य विधान ( निमित्त-उपादान, कर्ता-कर्म, व्याप्य-व्यापक )
- ( 6 ) अक्टूबर 2014 - पूज्य गुरुदेवश्री का अनोखा उपहार क्रमबद्धपर्याय
- ( 7 ) नवम्बर 2014 - पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी में आत्मोपलब्धि का उपाय : भेद-विज्ञान
- ( 8 ) दिसम्बर 2014 - पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी में साधक-साध्य का स्वरूप
- ( 9 ) जनवरी 2015 - पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी में सम्यग्दर्शन का विषय - दृष्टि का विषय
- ( 10 ) फरवरी 2015 - पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी में मुक्ति का मार्ग, प्रथम सोपान : सम्यग्दर्शन
- ( 11 ) मार्च 2015 - पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी में सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र - स्वरूप एवं अपेक्षायें
- ( 12 ) अप्रैल 2015 - पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी में श्रावकाचार, श्रमणाचार
- ( 13 ) मई 2014 - पूज्य गुरुदेवश्री के प्रति अहो भाव, उपकार स्मरणांजलिपूर्वक समापन : पूज्य गुरुदेवश्री के 125 उद्गार एवं गुरुदेवश्री के सम्बन्ध में 125 मनीषियों के अहो भाव